

आगम-नोआगमभेदात् । आगमः सिद्धान्तः । आगमदो मंगल-पाहुड-जाणओ उवजुत्तो । णो-आगमदो भाव-मंगलं दुविहं-उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

एदेषु णिक्खेवेषु केण णिक्खेवेण पयोजणं ? णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तत्परिणएण पयोजणं । जदि णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तत्परिणदेण पयोजण-मियरेहि णिक्खेवेहि इह किं पयोजणं ?

जत्थ बहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खेवे णियमा ।

जत्थ बहुवं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खेवे तत्थ' ॥ १४ ॥

इदि वयणादो णिक्खेवो कदो ।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेपः क्रियत इति? उच्यते, त्रिविधाः श्रोतारः, अव्युत्पन्नः

जिनेन्द्रदेव आदिकी वन्दना, भावस्तुति आदिमें परिणत जीवको तत्परिणत नोआगमभावमंगल कहते हैं ।

शंका— इन निक्षेपोंमेंसे यहां (इस ग्रन्थावताररूप प्रकरणमें) किस निक्षेपसे प्रयोजन है ?

समाधान— यहांपर तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है ।

शंका— यदि यहां तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है, तो अन्य निक्षेपोंके कथन करनेसे यहां क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रयोजनके विना उनका यहां कथन नहीं करना चाहिये था ।

समाधान— जहां जीवादि पदार्थोंके विषयमें बहुत जाने, वहांपर नियमसे सभी निक्षेपोंके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये । और जहांपर बहुत न जाने, तो वहांपर चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये । अर्थात् चार निक्षेपोंके द्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य करना चाहिये ॥ १४ ॥

इस वचनके अनुसार यहांपर निक्षेपोंका कथन किया गया ।

पूर्वोक्त कथनके मान लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोंका कथन किया जाता है, इस प्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं, पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा संपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला, और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला । इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है । दूसरा ' यहां पर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है ' इस प्रकार विवक्षित पदके अर्थमें संदेह करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थको

अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति । विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थाद्विन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः क्रियते अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय^१ । अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपाः उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः संशयितयोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्तयोः^२ प्रकृतार्थाविधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उक्तं च—

अवगय-णिवारणट्ठं पयदस्स परूवणा-णिमित्तं च ।

संसय-विणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥ १५ ॥

छोड़ कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है । दूसरी जातिके श्रोताके समान तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो संदेह करता है अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है ।

इनमेंसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायका अर्थों अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना चाहिये । यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात्, सामान्यरूपसे किसी वस्तुका स्वरूप जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोंके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररूपण करनेके लिये संपूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि, व्यतिरेक धर्मके निर्णयके विना विधिका निर्णय नहीं हो सकता है । दूसरी और तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि संदेह हो, तो उनके संदेहको दूर करनेके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तुके निर्णयके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । कहा भी है—

अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररूपण करनेके लिये, संशयका विनाश करनेके लिये, और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये। १५।

अथवा सम्भव है कि निक्षेपोंको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त वक्ता और श्रोता दोनोंको कुभागमें ले जावे, इसलिये भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ।

अब मंगलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मंगल, पुष्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव,

१. ननु निक्षेपाभावेऽपि प्रमाणन्यैरधिगम्यत एव तत्त्वार्थ इति चेन्न, अप्रकृतनिराकरणार्थत्वात्, प्रकृत-प्ररूपणार्थत्वाच्च निक्षेपस्य । न खलु नामादावप्रकृते प्रमाणनयाधिगतो भावो व्यवहारायालं, मुख्योपचार-विभागैर्नैव तत्सिद्धेः । न च तद्विभागो नामादिनिक्षेपैर्विना संभवति, येन तदभावेऽपि तत्त्वार्थाधिगतिः स्यात् । लघीय. पृ. ९९.

२. मु. विपर्यस्तयोः ।

निक्षेपविसृष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति वा ।

मङ्गलस्यैकार्थं उच्यते, मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मङ्गलपर्यायवचनानि^१ । एकार्थप्ररूपं किमर्थमिति^२ चेत् ? यतो मङ्गलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेष्वनेकाभिधानैर्मङ्गलार्थः^३ प्रयुक्त-श्चिरंतनाचार्यैः, सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्येकार्थं उच्यते । 'यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः' इति वचनाद्वा ।

मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति^४ हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्^५ । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात्^६ । द्रव्यमलं द्विविधम्^७—बाह्यमभ्यंतरं^८ च । तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यम् । घन-कठिन-जीव-

शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगलके पर्यायवाची नाम हैं ।

शंका— यहांपर मंगलके एकार्थ-वाचक अनेक नामोंका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान— क्योंकि, मंगलरूप अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य है, अर्थात् अनेक पर्यायवाची नामोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका प्रतिपादन किया जाता है । इसलिये प्राचीन आचार्योंने अनेक शास्त्रोंमें अनेक अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका कथन किया है । उसका मतिभ्रमके विना शिष्योंको सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे, इसलिये यहांपर मंगलके एकार्थ-वाची नाम कहे हैं ।

अथवा, 'यदि शिष्य एक शब्दसे प्रकृत विषयको नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दोंके द्वारा उसे ज्ञान करा देना चाहिये' इस वचनके अनुसार भी यहांपर मंगलरूप अर्थके पर्याय-वाची अनेक नाम कहे गये हैं ।

अब मंगलकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ) कहते हैं । जो मलका गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मंगल कहते हैं । द्रव्यमल और भावमलके भेदसे वह मल दो प्रकारका है । द्रव्यमल भी दो प्रकारका है, बाह्य-

१. पुण्यं पूदपविक्ता पसत्थसिवभद्वखेमकल्लाण्णा । सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिठ्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥
ति. प. १, ८.

२. मु. किमिति । ३. मु. शास्त्रेषु नैकामिधानैः मङ्गलार्थः । ४. मु. विनाशयति दहति ।

५. गालयति विनाशयति घातयति दहेति हन्ति सोषयति । विध्वंसयति मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं मणिदं ॥ ति. प. १, ९.

६. दोष्णि वियप्पा होंति हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहि । ति. प. १, १०.

७. दव्वमलं दुविहपं बाहिरमभंतरं चय । सेदमलरेणुकद्दमपहुदी बाहिरमलं समुद्दिठ्ठं ।

८. मु. माम्यन्तरं ।

ति. प. १, १०-११.

९. पुणु दिट्ठजीवपदेसे णिबंधरूवाइ पयडिठिदिआई । अणुभागपदेसाइं चउहिं पतेक्कवेज्जमाणं तु ॥

प्रदेश-निबद्ध-प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-विभक्त-ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्माभ्यन्तर-द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम् ।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम् । उक्तमर्थमलम् । अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः । तयोरुत्पन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम् । अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभावमलभेदात् । अनेकविधं वा^१ । तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्^२ । अथवा मङ्गं सुखं, तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्^३ । उक्तं च—

मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः^४ पुण्यार्थस्याभिधायकः ।

तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः ॥ १६ ॥

द्रव्यमल और अभ्यन्तर-द्रव्यमल । इनमेंसे, पसीना, धूलि और मल आदि बाह्य-द्रव्यमल हैं । सान्द्र और कठिनरूपसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश इन भेदोंमें विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म अभ्यन्तर द्रव्यमल हैं । अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामोंको भावमल कहते हैं ।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका है । अर्थमलको तो अभी पहले कह आये हैं, अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, अभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये । मलके वाचक शब्दोंको अभिधान मल कहते हैं । तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं ।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है । अथवा, इसी प्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका है । उस मलका जो गालन करे, विनाश करे व ध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं ।

अथवा, मंग शब्द सुखवाची है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं । कहा भी है—

यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है । उस पुण्यको जो लाता है उसे मंगलके इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं ॥ १६ ॥

णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं । अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो ।

ति. प. १, ११-१२.

१. भावमलं णादव्वं अण्णाणादंसणादिपरिणामो ॥ ति. प. १, १३.

२. अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा । ति. प. १, १४.

३. ताइं गालेदि पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥ ति. प. १, १४.

४. अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा । एदाण कज्जसिद्धिं मंगलगत्थेदि गंथकत्तारो ॥

ति. प. १, १४, १५.

५. पुव्वं आइरिर्एहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं । तं लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलप्पवरं ॥

ति. प. १, १६.

पापं^१ मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।

तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥ १७ ॥

किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो त्ति ।

छहि अणिभोग-द्वारेहि सव्व-भावाणुगंतव्वा^२ ॥ १८ ॥

अथवा मङ्गलमिति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन् वेति मङ्गलम् । मङ्गल-शब्दस्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता । मङ्गलस्यानुयोग^३ उच्यते—

किं मङ्गलम् ? जीवो मङ्गलम् । न सर्वजीवानां मङ्गलत्वप्राप्तिः^४ द्रव्याधिक-नयापेक्षया मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां

उपचारसे पापको भी मल कहा है । इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं । इस तरह मंगल शब्दके अर्थ-विषयक निश्चयके उत्पन्न करनेके लिये मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई है ।

अब मंगलका अनुयोग कहते हैं, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करते हैं ।

विशेषार्थ— जिनेन्द्रकथित आगमका पूर्वापार संबन्ध मिलाने हुए अनुकूल व्याख्यान करनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप विषयके साथ संबन्ध जोड़नेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, एक ही आगम-कथित-सूत्रके अनन्त अर्थ होते हैं, इसलिये सूत्रकी 'अणु' संज्ञा है । उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबन्धके प्रतिपादन करनेको अनुयोग कहते हैं ।

पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकारका है, इस प्रकार इन छह अनुयोग-द्वारोंसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनसे अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता है ।

१. पावं मलं ति भण्णदि उवचारसरूवणं जीवाणं । तं गालेदि विणासं णेदि त्ति भणंति मंगलं केई ॥ ति. प. १, १७

२. अणुभोयणमणुओगो सुयस्स नियएण जमभिधेएणं । वावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥ अहवा जमत्थओ थोवपच्छभावेहि सुयमणुं तस्स । अभिधेए वावारो जोगो तेणं व संबंधो ॥

वि. मा. १३९३, १३९४.

३. मूलाच्चा. ७०५. दुविहा परूवणा, छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो । किं कस्स केण व काहि केवचिरं कइविहो य भवे ॥ आ. ति. ८६४. तानीमानि षडनुयोगद्वाराणि, निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरण-स्थितिविधानतः । त. सू. १, ७. तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्य-कथनं स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने कारणनिरूपणं साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे आधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने कालप्ररूपणं स्थितिः । कतिविध इत्यनुयोगे प्रकारकथनं विधानम् । लघीय पृ. ९५.

४. मु. मङ्गलप्राप्तिः ।

च मङ्गलत्वाभ्युपगमात् ।

कस्य मङ्गलम्? जीवस्य द्रव्यार्थिकनयार्पणया नित्यतामादधानस्य, पर्यायार्थिक-नयार्पणयोत्पादविगमात्मकस्य । देवदत्तात्कम्बलस्येव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदेऽपि षष्ठ्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

केन मङ्गलम् ? औदयिकादिभावैः ।

क्व मङ्गलम् ? जीवे । कुण्डाद्वदराणामिव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सारे स्तम्भ इत्यत्राभेदेऽपि सप्तम्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

मंगल क्या है ? जीव मंगल है । किन्तु जीव को मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप नहीं हो जावेंगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायोंको मंगल माना है ।

मंगल किसके होता है ? द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात् सदाकाल एक-स्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप जीवके मंगल होता है । यहां पर जिस प्रकार (कम्बल देवदत्तका होते हुए भी) देवदत्तसे कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवका मंगलरूप पर्यायसे भेद नहीं है । क्योंकि, ' यह अंगूठी स्वर्णकी है ' यहां पर अभेदमें, अर्थात् अंगूठीरूप पर्याय स्वर्णसे अभिन्न होने पर भी जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, उसी प्रकार ' जीवस्य मंगलम् ' यहां पर भी अभेदमें षष्ठी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह संबन्धकारकमें अनेकान्त समझना चाहिये । अर्थात् कहीं पर दो पदार्थोंमें भेद होने पर भी संबन्धकी विवक्षासे षष्ठी कारक होता है और कहीं पर अभेद होने पर भी षष्ठी कारकका प्रयोग होता है ।

किस कारणसे मंगल उत्पन्न होता है ? जीवके औदयिक, औपशमिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उनसे मंगलकी उत्पत्ति मानना तो ठीक है । परंतु औदयिक भावसे मंगलकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहां पर ' औदयिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है ' यह कहना किस प्रकार संभव है ? इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी औदयिक भाव मंगलकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, फिर भी पूजा-भक्ति तथा अणुव्रत-महाव्रत आदि प्रशस्त रागरूप औदयिक भाव मंगलका कारण है । इसलिये उसकी अपेक्षासे औदयिक भावको भी मंगलकी उत्पत्तिके कारणोंमें ग्रहण किया है ।

मंगल किसमें उत्पन्न होता है ? जीवमें मंगल उत्पन्न होता है । जिस प्रकार कूड़ेसे उसमें रक्खे हुए बेरोंका भेद है, उस प्रकार जीवसे मंगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, ' सारे स्तम्भः ' अर्थात् वृक्षके सारमें स्तम्भ है । यहां पर जिसतरह अभेदमें भी सप्तमी विभक्तिकी

कियच्चिरं मङ्गलम् ? नानाजीवापेक्षया सर्वाद्वा' । एकजीवापेक्षया अनाद्य-पर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्यपर्यवसितता मङ्गलस्य ? द्रव्यार्थिकनयार्पणया । तथा च मिथ्यादृष्टद्यवस्थायामपि मङ्गलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् । न मिथ्याविरतिप्रमादानां मङ्गलत्वं, तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्यनन्तधर्मात्मकः । नावृता-वस्थायां मङ्गलीभूतकेवलज्ञानाद्यभावः, आव्रियमाणकेवलाद्यभावे तदावरणानुपपत्तेः, जीवलक्षणयोर्ज्ञानदर्शनयोरभावे लक्ष्यस्याप्यभावापत्तेश्च । न चैवं तथाऽनुपलम्भात् ।

उपलब्धि होती है, उसी प्रकार 'जीवे मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें सप्तमी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अधिकरण कारकके प्रयोगमें भी अनेकान्त है । अर्थात् कहीं भेदमें भी अधिकरण कारक होता है और कहीं अभेदमें भी अधिकरण कारक होता है ।

कबतक मंगल रहता है ? नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वदा मंगल रहता है और एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्त इस प्रकार मंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका— मंगलमें एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्तपना कैसे बनता है, अर्थात् एक जीवके अनादि कालसे अनन्तकाल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है ?

समाधान— द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मंगलमें अनादि-अनन्तपना बन जाता है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे जीव अनादिकालसे अनन्तकाल तक सर्वथा एक स्वभाव अवस्थित है, अतएव मंगलमें भी अनादि-अनन्तपना बन जाता है ।

शंका— इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो जायगी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह इष्ट है । किंतु इससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदिको मंगलपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है । मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त-धर्मात्मक है ।

आवृत अवस्थामें अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दशामें मंगलीभूत केवलज्ञानादिका अभाव है, अर्थात् उस अवस्थामें ये सर्वथा नहीं पाये जाते, यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, तो ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि आव्रियमाण अर्थात् जो कर्मोंके द्वारा आवृत होते हैं ऐसे केवलज्ञानादिके अभावमें केवलज्ञानादिको आवरण करनेवाले कर्मोंका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा । दूसरे, जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनके अभाव मानने पर लक्ष्यरूप जीवके अभावकी भी आपत्ति आ जाती है । लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षादि

न भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारः, तापप्रकाशयोस्तत्राप्युपलम्भात् । पर्यायत्वात्केवलादीनां न स्थितिरिति चेन्न, अत्रुट्यज्ज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात् । न छद्मस्थज्ञानदर्शनयोरुपलत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्वावयवानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः । रजोजुषां ज्ञानदर्शने न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्त्वात् । मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न, तदवस्थानां

प्रमाणोंसे जीवका अभाव होता हो ऐसा नहीं देखा जाता । किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि होती ही है ।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि ताप और प्रकाशकी वहां पर भी उपलब्धि होती है ।

विशेषार्थ— आवृत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि वे जीवके गुण हैं, यदि इस अवस्थामें उनका अभाव माना जावे तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा । इस अनुमानको ध्यानमें रखकर शंकाकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार हो जावेगा, क्योंकि, भस्माच्छादित अग्निमें अग्निरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता है । इस तरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचारित हो जाता है । इस प्रकार शंकाकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि राखसे ढकी हुई अग्निमें भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोंसे बराबर सिद्ध होती है ।

शंका— केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं । इसलिये आवृतअवस्थामें उनका सद्भाव नहीं बन सकता है ?

समाधान— यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कभी भी नही टूटनेवाली ज्ञान-संतानकी अपेक्षा केवलज्ञानके (शक्ति रूपसे) सदा पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोंके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान और दर्शनके एकदेशमें मंगलपनेका अभाव होने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोंको भी अमंगलपना प्राप्त होगा ।]

शंका— आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।]

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं ? इनका अभाव कैसे किया जा सकता है ?

समाधान— उस ज्ञान और दर्शनसंबन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि नाना संज्ञाएँ हैं । अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी

मत्यादिव्यपदेशात् । तयोः केवलज्ञानदर्शनाङ्कुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मङ्गलं तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मङ्गलम्, न मिथ्यात्वादीनां मङ्गलत्वम् । न मिथ्यादृष्टयः सुगतिभाजः, सम्यग्दर्शनमन्तरेण तज्ज्ञानस्य सम्यक्त्वाभावात् कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गलत्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टीनामवगताप्तस्वरूपाणां केवलज्ञान-दर्शनावयवत्वेनाध्यवसितरजोजुड्ज्ञानदर्शनानामावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्ति-खचित्वात्मस्मर्तृणां वा पापक्षयकारित्वतस्तयोस्तदुपपत्तेः। नोआगमभव्यद्रव्यमङ्गलापेक्ष-या वा मङ्गलमनाद्यपर्यवसानमिति । रत्नत्रयमुपादायाविनष्टेनैवाप्तसिद्धस्वरूपापेक्षया

अवस्थाविशेषका नाम चक्षुदर्शनादि है । यथार्थमें इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन एक ही हैं ।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनके अंकुररूप छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना प्राप्त होने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमें भी वे अंकुर विद्यमान हैं ?

समाधान— यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किंतु इतनेसे ही मिथ्यात्व, अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है ।

शंका— मिथ्यादृष्टि जीव सुगतिको प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विना मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानमें समीचीनता नहीं पाई जाती । तथा समीचीनताके विना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है । फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आप्तके स्वरूपको जाननेवाले, छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवरूपसे निश्चय करनेवाले और आवरण-रहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें जिस प्रकार पापका क्षयकारीपना पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें भी पापका क्षयकारीपना पाया जाता है । इसलिये मिथ्या-दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको भी मंगलपना होनेमें विरोध नहीं है ।

अथवा, नोआगमभाविव्यमंगलकी अपेक्षा मंगल अनादि-अनंत है । *

विशेषार्थ— जो आत्मा वर्तमानमें मंगलपर्यायसे युक्त तो नहीं है, किंतु भविष्यमें मंगलपर्यायसे युक्त होगा । उसके शक्तिकी अपेक्षासे अनादि-अनन्तरूप मंगलपना बन जाता है ।

रत्नत्रयको धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयके द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्धके स्वरूपकी अपेक्षा नैगमनयसे मंगल सादि-अनंत है ।

विशेषार्थ— रत्नत्रयकी प्राप्तिसे सादिपना और रत्नत्रय प्राप्तिके अनंतर सिद्ध स्वरूपकी

नैगमनयेन साद्यपर्यवसितं मङ्गलम् । सादिसपर्यवसितं सम्यग्दर्शनापेक्षया जघन्येनान्त-
र्मुहूर्तकालमुत्कर्षेण षट्षष्ठिसागरा देशोनाः ।

कतिविधं मङ्गलम्? मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदेऽन्तुर्विधम्, ज्ञान-
दर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्, ' णमो जिणाणं ' इत्यादिनानेकविधं वा ।

अथवा मंगलमिह छ अहियाराए दंडा वत्तव्वा भवन्ति । तं जहा, मंगलं मंगल-
कत्ता मंगल-करणीयं मंगलोवायो मंगल-विहाणं मंगल-फलमिदि । एदेसि छण्हं पि
अत्थो उच्चदे । मंगलत्थो पुव्वुत्तो । मंगल-कत्ता चोद्दस-विज्जा-ट्ठाण-पारओ
आइरियो । मंगल-करणीयं भव्व-जणो । मंगलोवायो ति-रयण-साहणाणि । मंगल-
विहाणं एय-विहादि पुव्वुत्तं । मंगल-फलं अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइ । तं' मंगलं
सुत्तस्स आदीए मज्जे अवसाणे च वत्तव्वं । उत्तं च—

जो प्राप्ति हुई है उसका कभी अन्त आनेवाला नहीं है । इसतरह इन दोनों धर्मोंको ही विषय
करनेवाले (न एकं गमः नैगमः) नैगमनयकी अपेक्षा मंगल सादि-अनन्त है ।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिये । उसका जघन्य काल
अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम छ्यासठ सागर प्रमाण है ।

मंगल कितने प्रकारका है ? मंगल-सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है । मुख्य
और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन
प्रकारका है । धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है । ज्ञान, दर्शन और तीन
गुप्तिके भेदसे पांच प्रकारका है । अथवा ' जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ' इत्यादि रूपसे
अनेक प्रकारका है ।

अथवा, मंगलके विषयमें छह अधिकारोंद्वारा दंडकोंका कथन करना चाहिये । वे इस
प्रकार हैं । १ मंगल, २ मंगलकर्ता, ३ मंगलकरणीय, ४ मंगल-उपाय, ५ मंगल-भेद और
६ मंगल-फल । अब इन छह अधिकारोंका अर्थ कहते हैं । मंगलका अर्थ तो पहले कहा जा
चुका है । चौदह विद्यास्थानोंके पारगामी आचार्य-परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं । भव्यजन मंगल करने
योग्य हैं । रत्नत्रयकी साधक सामग्री मंगलका उपाय है । एक प्रकारका मंगल, दो प्रकारका
मंगल इत्यादि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं । अभ्युदय और मोक्ष-सुख मंगलका फल है ।
अर्थात् जितने प्रमाणमें यह जीव मंगलके साधन मिलाता है उतने ही प्रमाणमें उससे जो
यथायोग्य अभ्युदय और निःश्रेयस सुख मिलता है वही उसके मंगलका फल है । वह मंगल
ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें कहना चाहिये । कहा भी है—

आदि-अवसाण-मज्जे^१ पणत्त मंगलं जिणिदेहि ।

तो कय-मंगल-विणयो^२ इणमो^३ सुत्तं पवक्खाभि ॥ १९ ॥

तिसु ट्ठाणेषु मंगलं किमट्ठं दुच्चदे ? कय-कोउय^४-मंगल-पायच्छित्ता^५
विणयोवगया सिस्सा अज्जेदारी सोदारी वत्तारी आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जा-फलं
च पावेतु^६ ति । उत्तं च—

आदिमिह भद्-वयणं सिस्सा लहु पारया हवंतु ति ।

मज्जे अब्बोच्छित्ती विज्जा^७ विज्जा-फलं चरिमे^८ ॥ २० ॥

जिनेन्द्रदेवने आदि, अन्त और मध्यमें मंगल करनेका विधान किया है । अतः मंगल-
विनयको करके मैं इस सूत्रका वर्णन करता हूँ ॥ १९ ॥

शंका— ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्त, इसप्रकार तीन स्थानोंमें मंगल करनेका
उपदेश किसलिये दिया गया है ?

समाधान— मंगलसंबन्धी आवश्यक कृतिकर्म करनेवाले तथा मंगलसंबन्धी प्राय-
श्चित्त करनेवाले अर्थात् मंगलके लिये आगे प्रारंभ किये जानेवाले कार्यमें दुःस्वप्नादिकसे मनमें
चंचलता आदि न हो इसलिये प्रायश्चित्तस्वरूप मंगलीक दधि, अक्षत, चंदनादिकको सामने
रखनेवाले और विनयको प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता अर्थात् पढ़नेवाले, श्रोता और वक्ता आरोग्य
और निर्विघ्नरूपसे विद्या तथा विद्याके फलको प्राप्त हों, इसलिये तीनों जगह मंगल करनेका
उपदेश दिया गया है । कहा भी है—

शिष्य सरलतापूर्वक प्रारंभ किये गये ग्रंथाध्ययनादि कार्यके पारंगत हों इसलिये आदिमें
भद्रवचन अर्थात् मंगलाचरण करना चाहिये । प्रारम्भ किये गये कार्यकी व्युच्छित्ति न हो
इसलिये मध्यमें मंगलाचरण करना चाहिये, और विद्या तथा विद्याके फलकी प्राप्ति हो, इसलिये
अन्तमें मंगलाचरण करना चाहिये ॥ २० ॥

१. मु. आदिवसाणः मज्जे । २. मु. वि णमोसुत्तं ।

३. सौभाग्यादिनिमित्तं यत्तनपनादि क्रियते तत्कौतुकम् । उक्तं च, सोहग्गादिणिमित्तं परेसि ण्हवणादि
कोउगं भणियं ॥ णाया— १, १४.

४. कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविधातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये
त्वाहुः 'पायश्चित्तं' ति पादेन पादे वा छुप्ताश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ताः । कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते
पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादि ।
भग. २, ५, १०८. टीका.

५. मु. विज्जाफलं पावेतु ।

६. मु. अब्बोच्छित्ति य ।

७. पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारया होंति । मज्जिम्मे णिविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥

ति. प. १, २९.

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलङ्घयन्ति ।
 अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥ २१ ॥
 आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः ।
 तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तं च^१ मंगलं दुविहं, णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय^२-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण ण णिबद्धो^३ देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्ध-मंगलं । इदं पुण जीवट्टाणं णिबद्ध-मंगलं, 'एत्तो^४ इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध- 'णमो अरिहंताणं' इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो ।

सुत्तं किं मंगलमुद अमंगलमिदि^५ ? जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं, पावकारणस्स

जिनेन्द्रदेवके गुणोंका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ।

विद्वान् पुरुषोंने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है । वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका कीर्तन करना ही है ॥ २२ ॥

वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्ध-मंगल और अनिबद्ध-मंगल । जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् श्लोकादिरूपसे रचा जाता है, उसे निबद्ध-मंगल कहते हैं । और ग्रन्थके आदिमें जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार निबद्ध नहीं किया जाता है उसे अनिबद्ध-मंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ— ग्रन्थकार जो मंगल-पाठ स्वयं रचकर ग्रन्थमें निबद्ध करता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं । जो अन्य-रचित मंगल-पाठ ग्रन्थमें लिखा जाता है, या मौखिक किया जाता है, उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं । इस व्यवस्थाके अनुसार षट्खण्डागमके प्रारम्भमें दिया गया णमोक्कार मंत्र निबद्ध मंगल है । उनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका प्रथम खण्डागम निबद्ध-मंगल है, क्योंकि, 'एत्तो इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है ।

१. णासदि विघ्नं भेददि यंहो दुट्ठा सुरा ण लंघति । इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामं गहणमेत्तेण ॥
 ति. प. १, ३०.

२. मु. तच्च ।

३. मु. 'णिबद्ध-देवदाणमोक्कारो । ४. मु. कय-देवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं' ।

५. मु. यत्तो ।

६. जइ मंगलं सयं चिय सत्थं तो किमिह मंगलगहणं ? सीसमइमंगलपरिग्गहत्थमेत्तं तदभिहाणं ॥
 इह मंगलं पि मंगलबुद्धीए मंगलं जहा साह । मंगलतियबुद्धिपरिग्गहे वि नणु कारणं भणिअं ॥ वि. भा. २०, २१.

सुत्त-विरोहादो । अहं मंगलं, किं तत्थ मंगलेण, एगदो चेय कज्ज-णिप्पत्तीदो इदि ।
ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि ? तारिस-पइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स ।
सुत्तस्सादीए मंगलं पढिज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि, दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्जमाण-
पाव-दंसणादो । पढण-विग्घ-विद्दावणं मंगलं । सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्ज-गुण-
सेढीए पावं गालिय पच्छा सव्व-कम्म-कखय-कारणमिदि । देवतानमस्कारोऽपि
चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न सूत्रविषयपरिज्ञान-
मन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात् । शुक्लध्यानात्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः
शुक्लध्यानमिति ।

इदाणि देवदा-णमोक्कार-सुत्तस्सत्थो उच्चदे ।

‘ णमो अरिहंताणं ’ अरिहननादरिहन्ता । नरकतिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावास-

शंका— सूत्र-ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे उसमें सूत्रपनेका विरोध आता है । और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र-ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है, यदि कहा जाय कि सूत्र मंगल नहीं है, सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती, अतएव परिशेष न्यायसे वह मंगल है । तब फिर इसमें अलगसे मंगल क्यों किया गया ?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रके आदिमें मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है कारण कि सूत्र और मंगल इन दोनोंसे पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है ।

निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र, प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है ।

शंका— देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामें संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल और सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं । फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके बिना केवल देवता-नमस्कारमें कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है । मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परंतु देवता-नमस्कार शुक्लध्यान नहीं है ।

अब देवता-नमस्कार सूत्रका अर्थ कहते हैं । ‘ णमो अरिहंताणं ’ अरिहंतोंको नमस्कार हो । अरि अर्थात् शत्रुओंके ‘ हननात् ’ अर्थात् नाश करनेसे ‘ अरिहंत ’ हैं ।

गताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिमोहः । तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्ध-लक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्म-गुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्यारेहंननादरिहन्ता' ।

रजोहननाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रि-कालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्द्रजांसि ।

मरक, तिर्यच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको ' अरि ' अर्थात् शत्रु कहा है ।

शंका— केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है ।

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं । मोहके बिना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं । जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जाय । इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके आधीन हैं ।

शंका— मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनका मोहके आधीन होना नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है । तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्म-गुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रुके नाश करनेसे ' अरिहंत ' यह संज्ञा प्राप्त होती है । अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे ' अरिहंत ' हैं । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलकी तरह बाह्य और अन्तरंग स्वरूप समस्त त्रिकाल-गोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुल

१. रागद्वेषकसाए य इंदियाणि य पंच य । परीसहे उवसगगे णासयतो णमोरिहा ॥ मूलाचा. ५०४. अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सब्वजीवाणं । तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणा उवस्सगगे । एए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति । वि. भा. ३५८३, ३५८२.

मोहोऽपि रजः, अस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्मभावो-
पलम्भात् किमिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्म-
विनाशाविनाभावित्वात् । तेषां हननादरिहन्ता ।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशा-
विनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अतिशयपूजार्हत्वाद्वाहन्तः' । स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानो-
त्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाम्योऽधिकत्वादतिशया-
नामर्हत्वाद्योग्यत्वादहन्तः' ।

अस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्मभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसीप्रकार
मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी
स्वानुभूतिमें काल्प्यं, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है ।

शंका— यहाँ पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके
ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन
तीन कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है । अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका
नाश अवश्यभावी है । इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहंत होते हैं । रहस्य अन्तराय कर्मको कहते
हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, और अन्तराय
कर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं । ऐसे अन्तराय
कर्मके नाशसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अहन्त होते हैं, क्योंकि, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल
और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकोंमें देवोंद्वारा की गई पूजायें देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त
पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अहन्त होते हैं ।

१. अरहति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुस्तमा लोए । रजहंता अरिहति य अरहंता तेण उच्चंवे ॥

मूलाचा. ५०५;

अरिहंति वंदणमंसणाइं अरिहंति पूयसक्कारं । सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥
देवासुरमणुएसुं अरिहा पूजा सुस्तमा जम्हा । अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ वि. भा. ३५८४,
३५८५.

२. अविद्यमानं वा रहः एकान्तरूपो देशः, अन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोष-
गतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोऽन्तरः [अरहंता] अथवा अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोप-
लक्षणभूतः अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरथान्ता [अरहंता] अथवा 'अरहंताणं' ति

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभो-
गाद्यनन्तगुणत्वादिहेवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्य-
बिम्बवद्देवीप्यमानाः स्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेष-
प्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगताशेषपापान्जन-
पुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलांतीतत्वतो निष्कलाः, तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः इति यावत् ।

णिद्द-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण^१-सायरुत्तिण्णा ।

णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥ २३ ॥

दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।

दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २४ ॥

ति-रयण-तिसूलदारियमोहंधासुर-कबंध-बिद-हरा ।

सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्त्व,
क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अनन्त गुण-
स्वरूप होनेसे जिन्होंने यहीं पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे
निकलते हुए सूर्य-बिम्बके समान जो देवीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर-प्रमाण होने पर भी
जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण
प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय
अर्थात् रोगोंसे दूर हो जानेके कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अंजनके समूहके नष्ट हो
जानेसे जो निरंजन हैं, और दोषोंकी कलायें अर्थात् संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण जो
निष्कल हैं, ऐसे उन अरिहंतोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो
गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित
हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने तीनों कालोंको विषय करनेरूप तीन नेत्रोंसे कामदेवके प्रतापको
बलित कर दिया है, जिन्होंने सकल पदार्थोंके सारको देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात्
मोह, राग और द्वेषको अच्छी तरहसे भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् विगम्बर अथवा
मुनियोंके पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य इन
तीन रत्नरूपी त्रिशूलकेद्वारा मोहरूपी अंधकाररूपअसुरके कबन्धजडको विदारित कर लिया है,

क्वच्चिदप्यासक्तिमगच्छन्तः, क्षीणरागत्वात् । अथवा 'अरह्यद्भ्यः' प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषय-
संपर्कोऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजन्तः (अरहंता) । अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरम् । तत्र
'अरोहद्भ्यः' अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात् । आह च, दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ नमस्करणीयता चैषां भीमभवगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्द-
रूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन परमोपकारित्वादिति । भग. १, १, १, टीका.

‘णमो सिद्धाणं’ सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः^१ सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्माणः^२ ।

सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः । नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात् । तानि शुक्लध्यानानि नार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्व

जिन्होंने संपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४, २५ ॥

विशेषार्थ— शैवमतमें महादेवको अपने तीन नेत्रोंसे कामदेवका नाश करनेवाला, सकल पदार्थोंके सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वंस करनेवाला, मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर, त्रिशूलको धारण करनेवाला और अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण करनेवाला माना है । महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर उक्त तीन गाथाओंमेंसे अन्तकी दो गाथाओंकी रचना हुई है । इससे यह प्रगट हो जाता है कि अरिहंत परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं ।

‘णमो सिद्धाणं’ अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो । जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूपमें स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्यको सिद्ध कर लिया है, और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ।

शंका— सिद्ध और अरिहंतोंमें क्या भेद है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहंत होते हैं । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका— चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अरिहंतोंके आत्माके समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहंतोंके अघातियाकर्मोंका उदय और सत्व दोनों पाये जाते हैं । इसलिये इन दोनोंमें भेद है ।

शंका— वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ?

समाधान— ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिये अरिहंतोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी सिद्धि हो जाती है । अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जायं, तो शरीरका पतन हो जाना चाहिये । परंतु शरीरका पतन तो होता नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिद्ध है ।

१. सर्वविवर्तोतीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति । भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥

पु. सि. ११.

२. दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्मसु । सिदे धत्ते णिवत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ । मूलाचा. ५०७.

सिद्धेः । तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसार-
स्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृती भेद इति चेन्न,
आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।

नोर्ध्वगमनमात्मगुणः, तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुण-
स्ततः एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः, केवलनि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेद-
स्त्वैवमेव न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिलेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।

शंका— उन कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरणसे
युक्त संसार है । वह, अघातिया कर्मोंके रहने पर भी अरिहंत परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है ।
तथा, अघातिया कर्म आत्माके गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी हैं । इसलिये अरिहंत और सिद्ध
परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयु-
कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहंतोंके पाया जाता है ।

शंका— ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसके आत्माका गुण होने पर
उसके अभावमें आत्माका भी अभाव प्राप्त होता है । इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं
है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा, अर्थात्
वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवान्के केवलीपनाही नहीं बन सकता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो रहो, क्योंकि, वह न्यायसंगत है । फिर भी सलेपत्व
और निलेपत्वकी अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है ।

विशेषार्थ— अरिहंत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है ।
फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है । परंतु प्रतिजीवी गुण आत्माके भाव-
स्वरूप धर्म नहीं होनेसे ताकृतभेदकी कोई मुख्यता नहीं है । इसलिये सलेपत्व और निलेपत्वकी
अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये । टीकाकारने जो
ऊर्ध्वगमन और सुख आत्माके गुण नहीं है, इसप्रकारका कथन किया है । वहां पर उन दोनों
गुणोंका तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है । ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अध्याबाध गुणका
ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि, आयु और वेदनीयके अभावसे होनेवाले जिन गुणोंको अवगाहन
और अध्याबाध कहा है उन्हें ही यहां पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन किया है ।

तेभ्यः सिद्धेभ्यो नम' इति यावत् ।

णिहय-विविहट्ट-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा विहुव-दुक्खा ।
 सुह-सायर-मज्झ-गया णिरंजणा णिच्च अट्ठ-गुणा ॥ २६ ॥
 अणवज्जा कय-कज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठ-सव्वट्ठा ।
 वज्ज-सिलत्थं भग्गयपडिमं वाभेज्ज-संठाणा ॥ २७ ॥
 माणुस-संठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।
 सव्विदियाण विसयं जमेग-देसे वि जाणंति ॥ २८ ॥

‘ णमो आइरियाणं ’ पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः^४ ‘चतुर्दश-
 विद्यास्थानपारगः’^५ ‘एकादशाङ्गधरः’ आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमय-
 पारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभय-

ऐसे सिद्धोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कमोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शोखरस्वरूप हैं, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमें निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे समस्त पर्यायोंसहित संपूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिलामें उत्कीर्ण प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त हैं, जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होने पर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि, जो संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको एक देशमें भी जानते हैं वे सिद्ध हैं ।

‘ णमो आइरियाणं ’ आचार्य परमेष्ठीको नमस्कार हो । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप और वीर्य इन पांच आचारोंका स्वयं आचरण करता है और दूसरे साधुओंसे आचरण कराता

१. नमस्करणीयता चैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रभोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवोपकारहेतुत्वादिति । भग. १, १, १, टीका.
२. अ. ब. वज्जसिलत्थं सिग्गयपडिमं ।
३. जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि । आयरियाणि देसंतो आयरियो तेण उच्चदे ॥ मूलाभा. ५१०. आचारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं । उवदिसदि य आचारं एसो आचारवं णाम ॥
 मूलाभा. ४१९.
४. मु. चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः ।
५. चोद्दसदसणवपूव्वी महामदी सायरो व्व गंभीरो । कप्पववहारघारी होदि हु आचारवं नाम ॥
 मूलाभा. ४२५.
६. मु. पारगाः ।
७. पंचमहव्वयतुंगा तक्कालियसपरसमयसुदधारा । णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ॥
 ति. प. १, ३.
८. मु. घराः ।
९. गंभीरो दुद्धरिसो सूरुो धम्मप्पहावणासीलो । खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥
 मूलाभा. १५९.

विप्रमुक्तः^१ आचार्यः ।

पवयण-जलहि-जलयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो^२ ।

मेरु व्व णिप्पकंपो सूरु पंचाणणो वज्जो ॥ २९ ॥

देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मक्को ।

गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होइ ॥ ३० ॥

संगह-णुग्गह^३-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।

सारण-वारण-सोहण^४-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो^५ ॥ ३१ ॥

एवंविधेभ्य आचार्येभ्यो^६ नम इति यावत् ।

है उसे आचार्य कहते हैं । जो चौदह विद्यास्थानोंका पारंगत है, ग्यारह अंगका धारी है, अथवा आचारांगमात्रका धारी है अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारंगत है, मेरुके समान निश्चल है, पृथिवीके समान सहनशील है, जिसने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया है, और जो सात प्रकारके भयसे रहित है, उसे आचार्य कहते हैं ।

प्रवचनरूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरु पर्वतके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं । जो संघके संग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करनेमें कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतोंकी शुद्धि करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ॥ २९, ३०, ३१ ॥

ऐसे आचार्योंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

१. तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् । चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥ भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युः भीतिराकस्मिकं ततः । ऋमादुद्देशिताश्चेति सप्तैता भीतयः स्मृताः ॥ पञ्चाध्या. २, ५०४, ५०५.

२. 'सुद्धछावासो' ण वसो अवसो, अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामयिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते । व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत् । तेनापि कर्त्तव्यं कर्मेति । अथवा 'आवासो' इत्ययमर्थः, आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं व्युत्सर्गं इत्यमी इत्यमूनि षडावश्यकानि ॥ मूलारा. गा. ११६ टीका.

३. मु. - णिग्गह- । ४. मु. - साहण- ।

५. संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती । किरियाचरणसुजुत्तो गाहुयआदेज्जवयणो य ॥

मूलाचा. १५८. समाचार अ.

६. आ मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिः

‘णमो उवज्झायाणं’ चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिक-
प्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः ।

चोद्दस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीणं ।

सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो ॥ ३२ ॥

एतेभ्य उपाध्यायेभ्यो’ नमः^१ ।

‘णमो उवज्झायाणं’ उपाध्याय परमेष्ठीको नमस्कार हो । चौदह विद्यास्थानके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं । वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणोंको छोड़कर पहले कहे गये आचार्यके समस्त गुणोंसे युक्त होते हैं ।

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्रमें प्रवेश करके अर्थात् परमागमका अभ्यास करके मोक्षमार्गमें स्थित हैं, तथा मोक्षके इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियोंको उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं ॥ ३२ ॥

एसे उपाध्यायोंको नमस्कार हो ।

इत्याचार्याः । उक्तं च, सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य । गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिओ ॥ अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा । आ मर्यादया वा चारो विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वथंकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः । आह च, पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता । आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति ॥ अथवा आ ईषद् अपरिपूर्णा इत्यर्थः चारा हेरिका ये ते आचाराः चारकल्पा इत्यर्थाः । युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेयाः, अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः । नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात् । भग. १, १, १. टीका. •

१. बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुद्धे । उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चंदि ॥ मूलाचा. षडावश्यक १०, आ. नि. १०००. ‘उ’ त्ति उवओगकरणे ‘ज्झ’ त्ति य ज्ञाणस्य होइ णिदेसे । एएण होंति उज्झा एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ ‘उ’ त्ति उवओगकरणे ‘व’ त्ति अ पावपरिवज्जणे होइ । ‘झ’ त्ति अ ज्ञाणस्स कए ‘ओ’ त्ति अ ओक्कस्सणा कम्मे ॥ आ. नि. ९९८, ९९९. उप समीपमागत्याधीयते ‘इड् अध्ययने’ इति वचनात् पठ्यते ‘इण् गती’ इति वचनाद्वा अधि आधिक्येन गम्यते, ‘इक् स्मरणे’ इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्ते उपाध्यायाः । यदाह, बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे । तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥ अथवा उपधानमुपाधिः संनिधिस्तेनोपाधिना उपाधी वा आयो लाभः श्रुतस्य येषां ते । उपधीनां वा विशेषणानां प्रक्रमाच्छोभनानामायो लाभो येभ्यः । अथवा उपाधिरेव संनिधिरेव आयं इष्टफलं देवजनितत्वेन अयानां इष्टफलानां समूहस्तदेकहेतुत्वाद्येषां ते । अथवा आधीनां मनःपीडानामायो लाभ आध्यायः अधियां वा ‘नञः कुत्सार्थत्वात्’ कुबुद्धीनामायोऽध्यायः । ध्यं चिन्तायां इत्यस्य धातोः प्रयोगान्नञः कुत्सार्थत्वादेव च दुर्ध्यानं वाध्यायः । उपहत आध्यायः अध्यायो वा यस्ते उपाध्यायाः । नमस्यता चैषां सुसम्प्रदायायातजिनवचनाध्यापनतो विनयनेन भव्यानामुपकारित्वादिति । भग. १, १, १. टीका.

२. म्. नम इति यावत् ।

‘ जमो लोए सव्व साहूणं ’ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः ।
पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुण-
धराश्च साधवः ।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूखहि-मंदरिदु-मणी ।

खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू ॥ ३३ ॥

सकलकर्मभूमिपूतपन्नम्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः^१ ।

‘ जमो लोए सव्वसाहूणं ’ लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओंको नमस्कार हो ।
जो अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध आत्माके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । जो पांच
महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण
करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैलके समान भद्रप्रकृति,
मृगके समान सरल, पशुके समान निरोह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसंग या सब
जगह बिना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्त्वोंके प्रकाशक, उदधि
अर्थात् सागरके समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वतके समान परीषह और उपसर्गोंके
आगे पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभा-
पुञ्जयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके समान
दूसरेके बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदिमें निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात् आकाशके
समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण करनेवाले
होते हैं ॥ ३३ ॥

संपूर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओंको नमस्कार हो ।

१. गगनतलं व गिरालंबणा, वाउरिव अपडिबंघा, सारदसलिल इव सुद्धहियया, पुक्खरपत्त इव
निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खिग्गिसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता,
कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थिमा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरा इव अप्पकंपा, सागरो इव
गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूर्रो इव दित्तत्तेया, जच्चकंचणगं च इव जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसया,
सहुयहुयासणो तेयसा जलंता अणगारा । सूत्र. २, २. ७०. उरगं गिरज्जलणसागरनहतलत्तखणसमो अ जो होई ।
अमरमियधरणिजलरुहरविपवणसमो अ तो समणो ॥ अनु. पृ. २५६.

२. गिष्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो । समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ॥
मूलाच्चा. ५१२. आ. नि. १००५. साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति, साधवः । समतां वा सर्वभूतेषु
ध्यायन्तीति निरुक्त्विन्यायात् साधवः । यदाह, गिष्वाणसाहए जोए जम्हा साहेंति साहुणो । समा य सव्वभूएसु
तम्हा ते भावसाहुणो ॥ साहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवाः । सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवताम-
विशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम् । अथवा, सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वः, ते च ते साधवश्च सार्वसाधवः ।
सार्वस्य वा अर्हंतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः । सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति कुर्वन्ति, सार्वान् वा
अर्हंतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणेदिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा ।
अथवा श्रव्येषु श्रवणार्हेषु वाक्येषु अथवा सव्यानि दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो निपुणाः
श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वा । एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात् । भग. १, १, १. टीका.

सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोकशब्दावन्यदीपकत्वाद्दध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगत-
त्रिकालगोचरार्हदादिदेवताप्रणमनार्थम् ।

युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनाम्,
अप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि
स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वा-
पत्तेः । तत आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । नाचार्यादि-
स्थितरत्नानां सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेदः, रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः । न
कारणकार्यत्वाद्भेदः, सत्स्वेवाचार्यादिस्थित्नावयवेष्वन्यस्य तिरोहितस्य रत्नभागस्य'

पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें, इस नमस्कार मंत्रमें जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अतः संपूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिये ।

शंका— जिन्होंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किंतु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है । अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, अपने अपने भेदोंसे अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रयसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा (यदि रत्नत्रयकी अपेक्षा देवपना न माना जाय तो) संपूर्ण जीवोंको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रयके यथायोग्य धारक होनेसे देव हैं, क्योंकि, अरिहंतादिकसे आचार्यादिकमें रत्नत्रयके सद्भावकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् जिसतरह अरिहंत और सिद्धोंके रत्नत्रय पाया जाता है, उसीप्रकार आचार्यादिकके भी रत्नत्रयका सद्भाव पाया जाता है । इसलिये आंशिक रत्नत्रयकी अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है ।

आचार्यादि परमेष्ठियोंमें स्थित तीन रत्नोंका सिद्ध परमेष्ठीमें स्थित रत्नोंसे भी भेद नहीं है । यदि दोनोंके रत्नत्रयमें सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अभावका प्रसंग आवेगा । अर्थात् जब आचार्यादिकके रत्नत्रय सिद्ध परमात्माके रत्नत्रयसे भिन्न सिद्ध हो जावेंगे, तो आचार्यादिकके रत्न ही नहीं कहलावेंगे ।

आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठीके सम्पददर्शनादिक रत्नोंमें कारण कार्यपनेसे भी भेद नहीं है, क्योंकि, आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अवयवोंके रहने पर ही तिरोहित, अर्थात् कर्मपटलोंके कारण पर्यायरूपसे अप्रगट, दूसरे रत्नावयवोंका अपने आवरणकर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है । अर्थात् जैसे जैसे कर्मपटलोंका अभाव होता जाता है, वैसे ही

स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात् । न परोक्षापरोक्षकृतो भेदः, वस्तुपरिच्छित्तिप्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्यावस्थाभेदतो भेदः, निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नावयवावयविकृतो भेदः, अवयवस्यावयविनोऽप्यतिरेकात् । सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम् ।

विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थाविगमो

वेसे अप्रगट रत्नोंके शेष अवयव अपने आप प्रगट होते जाते हैं । इसलिये उनमें कारण-कार्यपना भी नहीं बन सकता है । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंमें परोक्ष और प्रत्यक्ष-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, वस्तु-परिच्छित्तिकी अपेक्षा दोनों एक हैं । केवल एक ज्ञानके अवस्थाभेदसे भेद नहीं हो सकता है । यदि ज्ञानमें उपाधिकृत अवस्था-भेदसे भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमें भी भेद हो जायगा । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें अवयव और अवयवी-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं ।

शंका— संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नोंका एकदेश देव नहीं हो सकता ।

समाधान— ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, रत्नोंके एकदेशमें देवपनाका अभाव होने पर रत्नोंकी समग्रतामें भी देवपना नहीं बन सकता है । अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेशमें नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रतामें कहांसे आ सकता है ?

शंका— आचार्यादिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश हैं ।

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार पलाल-राशिका दाहरूप अग्नि-समूहका कार्य अग्निके एक कणसे भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये । इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है ।

शंका— सर्व प्रकारके कर्म-लेपसे रहित सिद्ध-परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया-कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहंतोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धाकी अधिकताके कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहंत परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक गुणवाले सिद्धोंमें सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है । अथवा, यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आप्त, आगम और पदार्थका परिज्ञान नहीं हो सकता था । किंतु अरिहंत परमेष्ठीके

न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया 'वादावर्हन्नमस्क्रियते' ?
न पक्षपातो दोषाय, शुभपक्षवृत्तेःश्रेयोहेतुत्वात्, अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य
पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्या-
पनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः । उक्तं च—

जस्संतियं धम्मपहं^३ णिगच्छे तस्संतियं वेणइयं पउंजे ।

सक्कारए तं सिर-पंचएण^४ काएण वाया मणसा य णिच्चं^५ ॥ ३४ ॥

मंगलस्स कारणं गयं ।

संपहि णिमित्तमुच्चदे । कस्स णिमित्तं ? सुत्तावदारस्स । तं कथं जाणिज्जदि

प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया जाता है ।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इसपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है । किंतु शुभ पक्षमें रहनेसे वह कल्याणका ही कारण है । तथा द्वैतको गौण करके अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है ।

विशेषार्थ— पक्षपात वहीं संभव है जहां दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी और अधिक आकर्षण होता है । परंतु यहां परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें दृष्टि प्रधानतया गुणोंकी ओर रहती है, अवस्थाभेदकी प्रधानता नहीं है । इसलिये यहां पक्षपात किसी प्रकार भी संभव नहीं है ।

अथवा आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिये भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया गया है । कहा भी है—

जिसके समीप धर्म-मार्ग प्राप्त करे उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा उसका, शिर-पंचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जंघाएं इन पंचांगोंसे तथा काय, वचन और मनसे निरन्तर सत्कार करना चाहिये ।

इसतरह मंगलके कारणका वर्णन समाप्त हुआ । अब निमित्तका कथन करते हैं—

शंका— यहां पर किसके निमित्तका कथन किया जाता है ?

समाधान— यहां पर सूत्रावतार अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भ होनेके निमित्तका वर्णन किया जाता है ।

१. अरहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जति तेण अरहाई । न वि कोइ य परिसाए पणमिन्ता पणमई रत्तो ॥

आ. नि. १०१५.

२. मु. वर्हन्नमस्कारः क्रियते । ३. मु. धम्मपहं ।

४. प्रतिषु 'पंचमेण' इति पाठः । दो जाणू दोणिण करा पंचमंगं होइ उत्तमंगं तु । सम्मं संपणिवाओ णेओ पंचंगणिवाओ ॥ पञ्चा. वि. ३, १५.

५. जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे । सक्कारए सिरसा पंजलीओ कायगिराओ भो मनसा अ निच्चं । द. व. ९, १३.

सुसावदारस्स, ण अण्णस्सेति? पयरणादो । भोयण-वेलाए ' सेंधवमाणि ' त्ति वयणादो लोण इव । बद्ध-बंध-बंधकारण-मुक्क-मोक्ख-मोक्खकारणाणि णिक्खेव-णय-प्पमाणाणियोग-द्वारेहि अहिगम्म भविय-जणो जाणदु त्ति सुत्तमोदिण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंधदो गणहर-देवादो त्ति ।

द्रव्यभावाम्यामकृत्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति चेदेतत्सर्व-मभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत । पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुन-र्घटत एव ।

छद्द्व-णव-पयत्थे सुय-णाणाइच्च-दिप्प-तेएण ।

पस्संतु भव्व-जीवा इय सुय-रविणो हवे उदयो' ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं हेतुरुच्यते । तत्र हेतुद्विविधः, प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति । कस्य हेतुः?

शंका— यह कैसे जाना जाता है कि यहां पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है, अन्धका नहीं ।

समाधान— यह बात प्रकरणसे जानी जाती है । जैसे—भोजन करते समय ' सेंधव लाओ ' इस प्रकारके वचनसे सेंधे नमकका ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि यहां पर ग्रन्थावतारके निमित्तका ही कथन किया जा रहा है ।

बद्ध, बन्ध, बन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारोंसे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाता बनें, इसलिये यह सूत्र-ग्रन्थ अर्थ-प्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थकरसे और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अवतीर्ण हुआ है ।

शंका— द्रव्य और भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सकता है ।

समाधान— यह शंका तो तब बनती जब यहां पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती । परंतु यहां पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है ।

भव्य-जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखें अर्थात् भलीभांति जानें, इसलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अब हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका है, एक-प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु ।

शंका— यहां पर किसके हेतुका कथन किया जाता है ?

सिद्धान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुद्विविधः, साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षभेदात् । तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनं प्रतिसमय-मसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च' । कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्षं द्विविधम्, अभ्युदयं नैश्वेय-समिति । तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादि-प्रशस्त-कर्म-तीव्रानुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिशदादि-देव-चक्रवर्ति-बलदेव-नारायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्डलीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम्' ।

समाधान— यहां पर सिद्धातके अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है ।

उन दोनों प्रकारके हेतुओंमेंसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु । उनमेंसे अज्ञानका विनाश सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमें असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे कर्मोंकी निर्जराका होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु (फल) समझना चाहिये ।

शंका— कर्मोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है ? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है, यह बात अवधि-ज्ञानी और मनःपर्यय-ज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है ।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिकके द्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु है । परोक्षहेतु दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नैश्वेयसुख । इनमेंसे साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश आदि देवसंबन्धी दिव्य-सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजा, अधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि मनुष्य-संबन्धी मानुष्य-सुखको अभ्युदयसुख कहते हैं ।

१. सकलापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होदि पच्चक्खा । अण्णाणस्स विणासं णाण्णदिवायरस्स उप्पत्ती ॥ देवमणुस्सादीहि य सततमभच्चणप्पयाराणी । पडिसमयमसंखेज्जयगुणसेदिक्कम्मणिज्जरणं ॥

ति. प. १, ३६-३७.

२. इय सकलापच्चक्खं पच्चक्खपरं परं च णादब्बं । सिस्सपडिसिस्सपहुदीहि सददमभच्चणपयारं ॥

दोमेदं च परोक्खं अब्भुदयसोक्खा मोक्खसोक्खाइं । सादादिविबिहसुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहि ॥ इंदपाडिदिगिदियतेत्तीसामरसमाणपहुदिसुहं । राजाहिराजमहाराजद्धमंडलिमंडलयाणं ॥ महमंडलियाणं अद्धचक्किकक्कहुरितित्थयरसोक्खं । अट्ठारसमेत्ताण सामीसेणेण भत्तिजुत्ताणं ॥ ति. प. १, ३८-४१.

अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम् ।

राजा स्यान्मुकुटधरः कल्पतरुः सेवमानानाम् ॥ ३६ ॥

एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ—

हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मंति-सेट्ठि-दंडवई ।

सुद्ध-क्खत्तिय-बम्हण-वइसा तह महयरा चेव ॥ ३७ ॥

गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता ।

अट्ठारह सेणीओ पयाइणा मेलिया होंति १ ॥ ३८ ॥

पृतनाङ्ग-दण्डनायक-वर्ण-वणिग्भुग्-गण्ड-महामात्राश्च ।

मन्त्रि-पुरोहित-सेनान्यमात्य-तलवर-महत्तराः स्युः श्रेण्यः ॥ ३९ ॥

पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके ।

राजसहस्राधिपतिः प्रतीयतेऽसौ महाराजः ॥ ४० ॥

द्विसहस्रराजनाथो मनीषिभिर्वर्ण्यतेऽर्धमण्डलिकः ।

मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतुःसहस्रावनीशपतिः ॥ ४१ ॥

✱

जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिये कल्पवृक्षके समान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहां प्रकरणमें उपयोगी गाथाएं उद्धृत की जाती हैं ।

घोड़ा, हाथी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानी महामात्य और पैदल सेना इसतरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३७, ३८ ॥

अथवा हाथी, घोड़ा, रथ और पयादे ये चार सेनाके अंग, दण्डनायक; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिकपति, गणराज, महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तलवर और महत्तर ये अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमें पांचसौ राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं, और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज कहते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

१ वररथणमउडधारी सेवयमाणा णवंति दह अट्ठं । देत्ता ह्वेदि राजा जितसत्तू समरसंघट्टे ॥ करितुरय-रहाहिवई सेणावइ य मंति-सेट्ठि-दंडवई । सुद्धक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा ॥ गणरायमंति-तलवर-पुरोहिया मंतया महामंता । बहुविहपइण्णया य अट्ठारसा/होंति सेणीओ ॥ ति. प. १, ४२-४४.

अष्टसहस्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधाः महामण्डलिकम् ।
 षोडशराजसहस्रैर्विनम्यमानस्त्रिखण्डधरणीशः^१ ॥ ४२ ॥
 षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशद्धरणपतिसहस्राणाम् ।
 दिव्यमनुष्यं विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥
 सकलभुवनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः ।
 विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्टिः ॥ ४४ ॥
 तित्थयर-गणहरत्तं तहेव देविद-चक्कवट्टित्तं ।
 अण्णरिहमेवमाई अब्भुदय-सुहं^२ वियाणाहि^३ ॥ ४५ ॥
 तत्र नैःश्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम् । उक्तं च—
 अदिसयमाद-समुत्थं विसयादीदं अणोवममणंतं ।
 अब्बुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवजोगो य सिद्धानं^४ ॥ ४६ ॥

बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं । और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

इस लोकमें बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्र-रत्नको धारण करनेवाले और भरतक्षेत्रके छह खण्डके अधिपतिको दिव्य मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौसठ चँवर दुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थकर कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस लोकमें तीर्थकरपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रवर्तिपना और इसी प्रकारके अन्य अर्ह अर्थात् पूज्य पदोंको अभ्युदयसुख समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरिहंत और सिद्धोंके अतीन्द्रिय सुखको नैश्रेयस सुख कहते हैं । कहा भी है—

अतिशयरूप, आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद-

१ पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो । रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महराजो ॥ दुसहस्समउडबद्धभुववसहो तच्च अद्धमंडलिओ । चउराजसहस्साणं अहिणाहो होइ मंडलियं ॥ महमंडलिओ णामो अठ्ठसहस्साणं अहिवई ताणं । रायाणं अद्धचक्की सामी सोलससहस्समेताणं ॥ ति. प. १, ४५-४७.

२ मु.—फलं ।

३ छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ । होदि हु सयलचक्की तित्थयरो सयलभुवणवई ॥ ति. प. १, ४५. बलवासुदेवादीनां पराक्रमवर्णनाय किञ्चिदुच्यते, सोलसरायसहस्सा सव्ववलेणं तु संकलनिबद्धं । अच्छंति वासुदेवं अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ घेतूणं संकलं सो वामगहत्थेण अंछमाणाणं । भुजिज्ज विलिपिज्ज व महमहणं ते न चाएत्ति ॥ दो सोला वत्तीसा सव्ववलेणं तु संकलनिबद्धं । अच्छंति चक्कवट्टि अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ जं केसवस्स उ बलं तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स । तत्तो बला बलवगा अपरिमियबला जिणवर्दिदा ॥ आ. नि. ७१-७५.

४ प्रवच. १, १३. 'सुद्धवओगप्पसिद्धानं' इति पाठभेदः ।

भाविय-सिद्धंताणं दिणयर-कर-णिम्मलं हवइ णाणं ।
 सिसिर-यर-कर-सरिच्छं हवइ चरित्तं स-वस-चित्तं ॥ ४७ ॥
 मेरु व्व णिप्पकंपं णट्ठं-मलं ति-मूढ-उम्मुक्कं ।
 सम्मद्दंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणभासा^१ ॥ ४८ ॥
 तत्तो च्चव सुहाइं सयलाइं देव-मणुय-खयराणं ।
 उम्मुलियट्ठ-कम्मं फुड सिद्ध-सुहं पि पवयणादो^२ ॥ ४९ ॥
 जिय^३-मोहिंघण-जलणो अण्णाण-त्तमंघयार-दिणयरओ ।
 कम्म-मल-कलुस-पुसओ जिण-वयणमिवोवही सुंहयो ॥ ५० ॥
 अण्णाण-तिमिर-हरणं-सुभविय-हिययारविद-जोहणयं ।
 उज्जोइय-सयल-वहं सिद्धंत-दिवायरं भजह^४ ॥ ५१ ॥

रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धोंको होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र होता है ॥ ४७ ॥

प्रवचन अर्थात् परमागमके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल-रहित, तीन मूढ़ताओंसे रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रवचनके अभ्याससे ही देव, मनुष्य और विद्याधरोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं, तथा आठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिद्ध सुख भी प्रवचनके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

वह जिनागम जीवके मोहरूपी इंधनको भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मको मार्जन करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुभग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिद्धान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

१. सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं । अदिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं पवरं ॥ सुदणाणभावणाए णाणं मत्तंड-किरण-उज्जोओ । आदं चंदुज्जलं चरित्तं चित्तं हवेदि भव्वाणं ॥ कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयगमलं । जायदि पयवणपढणे सम्मद्दंसणमणुवमं णं ॥ ति. प. १, ४९-५१.

२. सुखेयरमणुवाणं लब्भंति सुहाइ आरिसंभासा । तत्तो णिव्वाणसुहं णिण्णासिदधातुणद्धमलं । ति. प. १, ५२.

३. ' व. ' प्रती ' जियमोहिंघणजलणो ' इत्यादि गाथाद्वयं नास्ति ।

४. गाथाऽङ्के ५०-५१ तमे ताप्रतौ न स्तः ।